International Journal of Advanced Academic Studies 2021; 3(3): 214-216

E-ISSN: 2706-8927
P-ISSN: 2706-8919
www.allstudyjournal.com
IJAAS 2021; 3(3): 214-216
Received: 19-05-2021
Accepted: 21-06-2021

डॉ. पूनम कुमारी
शोधार्थी, विश्वविद्यालय इतिहास विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार, भारत

Corresponding Author:
डॉ. पूनम कुमारी
शोधार्थी, विश्वविद्यालय इतिहास विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार, भारत

प्राक् मौर्यकालीन साम्राज्यवाद का आर्थिक स्थिति पर प्रभाव

डॉ. पूनम कुमारी

सारांश
उत्तर भारत में मगध के नेतृत्व में जो साम्राज्यवाद की लहर चली उसके कारण भारत में एक राजनीतिक एकता की भावना विकसित हुई। वहीं दूसरी ओर पश्चिमोत्तर प्रांत जो राजनीतिक एकता से कोसों दूर था वहाँ सिकंदर के आक्रमण के फलस्वरूप तलवार के बल पर एक अस्थायी राजनीतिक एकता बनी। यह राजनीतिक एकता अंततः भारत में आर्थिक स्थितियों के लिये हितकर साबित हुई। राजनीतिक एकता कायम होने का सबसे बड़ा प्रभाव व्यापारियों पर पड़ा। बहुत सारे छोटे–छोटे राज्य होने के कारण उन्हें हर राज्य की सीमा पर वाणिज्यिक कर की अदायगी करनी पड़ती थी। कर के रूप में भारी रकमों की अदायगी करने के कारण उन्हें इसकी भरपाई अपने वस्तुओं के मूल्य बढ़ाकर करनी पड़ती थी। वस्तुओं के मूल्य बढ़ाये जाने पर उसकी बिक्री प्रभावित होती थी। इसका असर अंततः उत्पादन पर पड़ता था। विच्छृखलित भारत में व्यापार एवं व्यापारियों को किस प्रकार दोहरी मार का सामना करना पड़ता था इसे बस एक उदाहरण से समझा जा सकता है। वणिज्ण गणतंत्र एवं मगध के बीच गंगा नदी बहती थी। दोनों जनपद इस नदी पर अपना अधिकार जताते थे एवं दोनों ही के द्वारा गंगा नदी से होकर गुजरनेवाले व्यापारियों से कर की वसूली की जाती थी। जाहिर है कि इस तरह कदम–कदम पर दोहरी मार पड़ने के कारण व्यापार के क्षेत्र में लोग उतरने में कतराते थे। इसका असर उन कारीगरों पर पड़ता था जो तरह–तरह के माल तैयार किया करते थे। प्राक् मौर्यकाल में जनपदों के एकीकरण की चली लहर ने उद्योग–धंधों एवं वाणिज्य–व्यापार के लिये एक सकारात्मक उत्साहजनक वातावरण तैयार किया जिसका सशक्त प्रभाव अंततः नगरीकरण पर पड़ा।

मुख्यशब्दः महिला, दलित, शोषण, उत्पीड़न, हिंसा, अधिकारिता

प्रस्तावना
प्राक् मौर्यकाल में गाँवों एवं नगरों में भारी संख्या में व्यवसायी एवं शिल्पकार रहा करते थे। व्यवसायों की संख्या अधिक थी। बौद्ध साहित्य में अनेक प्रकार के शिल्प एवं शिल्पकारों का वर्णन मिलता है। इनमें निम्न प्रकार के शिल्प प्रमुख थे–

हाथी दाँत शिल्प– इस काल में हाथी दाँत से सुंदर वस्तुएँ बनायी जाती थीं जैसे चूड़ियाँ एवं गहने। अट्ठसालिनी में हाथी दाँत के शिल्पियों की बहुत प्रशंसा की गयी है। बेग्राम में हाथी दाँत की अनेक सुंदर वस्तुएँ मिली है। जातकों के अनुसार बनारस में हाथी दाँत की सुंदर वस्तुएँ बनायी जाती थीं।[1]

वस्त्र उद्योग– इस युग में वस्त्र उद्योग काफी समृद्ध था। गांधार ऊनी वस्त्रों के व्यवसाय के लिये, वाराणसी रेशमी वस्त्रों के लिये एवं शिविदेश सूती वस्त्रों के लिये अधिक प्रसिद्ध था। कपास का उल्लेख ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में मिलता है। हेरोडोटस ने अपने विवरण में लिखा है कि भारत निवासी रूई के बने कपड़े पहनते थे और भारत की सूत बहुत सफेद होती थी। एरियन के वर्णन से भी इस बात की पुष्टि होती है कि भारत की कपास बहुत चमकीली और सफेद होती थी।[2]
प्राक् मौर्यकाल में ऊनी वस्त्र उद्योग भी बहुत बढ़ा–चढ़ा था। ऊन का उल्लेख महाभारत काल से ही मिलता है। इस ग्रंथ से ज्ञात होता है कि पश्चिमी देशों से आनेवाले शक, रोमक एवं गुजरात के अभीरों ने पांडवों को उपहारस्वरूप ऊन भेंट किये थे। जातकों में उडियान (स्वात) के कम्बलों का उल्लेख है। इसका अर्थ यह है कि इस काल में नेपाल और गांधार क्षेत्रों से कम्बलों का आयात किया जाता था।[3]
इस काल में लोग रेशम से परिचित हो चुके थे। महावग्ग में एक भिक्षु को रेशमी वस्त्र धारण करने की अनुमति दी गयी है। इस काल के विभिन्न अभिलेखों एवं साहित्यों में रेशम के लिये अनेक शब्द यथा पत्रौर्ण, चीन पट्ट, चीनांशुक, कीटण, पट्ट, पट्टांशुक, चीन–कौशेय आदि शब्द प्रयुक्त मिलते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इस काल में रेशमी वस्त्र अधिक पहने जाते थे।[4]

धातु उद्योग– विभिन्न अभिलेखीय स्रोतों से ज्ञात होता है कि इस काल में ताँबे एवं लोहे के बर्तन बनाये जाते थे। सोने के चम्मच और पीतल के घंटे–घड़ियाल बनाये जाते थे।

चांदी के बर्तन एवं गहने बनाये जाते थे। डायोडोरस के विवरण से ज्ञात होता है कि भारत में सोना, चाँदी, एवं लोहे की अनेक खानें थीं। टीन एवं अन्य धातुओं से भी आभूषण एवं युद्ध के लिये उपयोगी वस्तुएँ यथा कवच, सिर के टोप एवं हथियार बनाये जाते थे। स्ट्रेबो ने भी लिखा है कि भारत में सोने एवं चाँदी की अनेक खाने हैं। वस्तुतः बुद्ध काल में ही भारत में धातु विज्ञान ने काफी उन्नति प्राप्त कर ली थी। दीघ निकाय में बुद्ध का हवाला देते हुए लिखा गया है कि किस प्रकार लुहार धौकनी से लोहे को पिघला कर उसे चाहे जिस आकार का बना लेता है। वस्तुतः इस काल में कच्ची धातुओं को साफ कर उनसे अनेक मिश्रित धातुएँ बना लेने की कला पूर्ण विकसित हो चुकी थी।[5]

लौह कर्म– प्राक् मौर्यकाल में धातु उद्योग पूरी तरह विशिष्टीकरण के आधार पर विभाजित हो चुका था। तत्कालीन स्रोतों में सोना, चांदी, सीसा, टीन, ताँबा, पीतल एवं लोहे की वस्तुएँ बनानेवालों के अलग–अलग नाम मिलते हैं। परंतु गाँवों एवं नगरों में सबसे अधिक महत्त्व लुहारों का था। लुहारों के अलग गाँव थे उनकी अपनी बस्तियाँ होती थी। 'कम्मार ग्राम' से पुकारे जानेवाले इन लुहारों के दुकानों पर आकर जरूरतमंद लोग कुठार, फाल, चाबुक का अग्रभाग आदि बनबाते थे। जातकों से यह भी पता चलता है कि लुहार लोग अपने–अपने काम में कुशल होते थे एवं उम्दा किस्म के औजार एवं अन्य सामान बनाते थे। वे किसानों, मालियों एवं बढ़इयों के लिये औजार तो बनाते ही थे अपितु युद्ध के लिये कवच, सिर के टोप एवं अन्य प्रकार के हथियार भी बनाते थे।[6]

स्वर्ण कर्म– सोने के काम करनेवालों को इस आलोच्य काल में बर्द्धकी एवं स्वर्णकार कहकर पुकारा जाता था। सुनार गाँवों में न रहकर शहर में ही रहते थे। दरअसल स्वर्णकार सोने, चांदी, रत्नों आदि से जिस प्रकार आभूषण एवं अन्य प्रकार की सामग्रियाँ बनाते थे, उनके उपभोक्ता शहर के ही ऐश्वर्यवान लोग होते थे। राजा, राज्याधिकारी, व्यापारी आदि लोग इनके उपभोक्ता होते थे। अतः इनकी बस्तियाँ मुख्य रूप से नगरों में ही हुआ करती थीं। प्राचीन बौद्ध ग्रंथों से यह जानकारी मिलती है कि प्राक् मौर्यकाल में सोने को साफ करने, उस पर पोलिस करने एवं चांदी को साफ करने की तकनीकी का पूरा विकास हो चुका था। हेरोडोटस ने लिखा है कि भारत के निवासी ईरान को कर के रूप में 360 टेलेंट सोने का चूर्ण देते थे। भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्र में सोने की प्रचुरता थी। 326 ई.पू. में जब सिकंदर अपने भारत विजय के क्रम में तक्षशिला पहुँचा तो वहाँ के राजा आम्भी ने सिकंदर एवं उसके सेनानायकों को सोने की अशर्फियाँ एवं बहुमूल्य वस्तुएँ एवं उसके सेनानायकों को सोने की अशर्फियाँ एवं बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट की थी। वहीं यह भी विवरण मिलता है कि पश्चिमोत्तर क्षेत्र के मुषिक नामक राज्य में सोने एवं चांदी की अनेक खाने थीं।[7]

ताँबे एवं काँसे का काम– इस काल में ताँबे एवं काँसे से भी अनेक वस्तुएँ बनायी जाती थीं। तक्षशिला एवं अन्य स्थानों से ताँबे एवं काँसे के बने अनेक औजार, बर्तन, आभूषण, मूर्तियाँ एवं अन्य वस्तुएँ मिली हैं। काँसा धातु से निर्माण ने एक अलग विशिष्ट शिल्प का रूप धारण कर लिया था। काँसा का काम करनेवाले काँस्यकार कहे जाने लगे थे।[8]

काष्ठ कर्म– आलोच्य काल में लकड़ी का काम रकनेवाले बड्ढकि (बढ़ई) कहलाते थे। लेकिन इस काष्ठ कर्म में भी कई श्रेणियाँ हो चली थीं। मसलन लकड़ी पर रन्दा करनेवाले श्तक्षकश एवं उन्हें खराद कर काम करनेवाले श्भ्रमकारश कहे जाते थे। बढ़ई मकान बनाने के लिये शहतीर एवं तख्ते बनाते थे। वे खाट एवं पीढ़े भी बनाते थे। इसके अलावा वे गाड़ियाँ भी बनाते थे।[9]

मृमाण्ड निर्माण– इस काल में कुम्भकार मिट्टी से बर्तन, मूर्तियाँ एवं खिलौने बनाया करते थे। इस काल के विशिष्ट मृद् मांड लाल एवं चित्रित है। तक्षशिला एवं अन्य स्थलों की खुदाई से प्राप्त मृद्भांडो एवं मृण्मूत्तियों के अवशेष से इस काल की मृण्मूर्ति कला पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।[10]

प्रस्तर कर्म– आलोच्य काल में प्रस्तर कर्म एक अलग शिल्प के रूप में अपनी स्थान बना चुका था। सूत्र साहित्यों से ज्ञात होता है कि उस समय पत्थर के बर्तन बनाये जाते थे। पत्थरों से चक्की के पाट, खरल–मूसल सहित अन्य प्रकार के पात्र एवं उपकरण बनाये जाते थे। संगतरास पत्थर के खंभे बनाते थे और पत्थरों में ही खुदाई कर नाना प्रकार के अलंकरण एवं बेलबूटे बनाते थे। वे तालाबों की दिवारों एवं सीढ़ियों में पत्थर लगाते थे। राजभवनों में पत्थर के खंभे, शहतीर आदि लगाये जाते थे। इस काल में प्रस्तर कर्म की उत्कृष्टता का प्रमाण कुम्हार की खुदाई से मिलता है। पाटलिपुत्र में अजातशत्रु ने जिस दुर्ग का निर्माण कराया था उसमें लगाये गये प्रस्तर खण्ड एवं कई शहतीर वहाँ वे उत्खनन के पश्चात प्राप्त हुए हैं।[11]

शीशे का काम– प्राक् मौर्यकाल में शीशे का भरपूर उपयोग किया जाता था। ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी से ही भारत में शीशे की वस्तुओं का बड़ी मात्रा में प्रयोग होने लगा था। भीर के टीले में ईसा पूर्व सातवीं एवं छठी शताब्दी के स्तर की शीशे की वस्तुएँ मिली हैं। किंतु सबसे अधिक वस्तुएँ तशक्षिला के स्तर पर मिली हैं। तक्षशिला के सर्कप में उत्खनन से शीशे की चूड़ियाँ, शीशियाँ, फ्लास्क, टायल, मनके आदि वस्तुएँ मिली हैं। शीशे की जो भारतीय वस्तुएँ यहाँ मिली हैं उनके रंग और उनके कम आपेक्षिक घनत्व से यह स्पष्ट होता है कि भारतीयों ने शीशे के तकनीकी के रासायनिक पक्ष को अच्छी तरह जान लिया था।[12]

इत्र कर्म– आलोच्य काल में लोग इत्र का प्रयोग करते थे। धनी व्यक्तियों के यहाँ इत्र की भारी माँग रहा करती थी। जातकों में इत्र बनाने के अनेक संदर्भ मिलते हैं। जातकों में गो शीर्ष, लाल चंदन एवं दर्दर से बननेवाले इत्रों का उल्लेख है। इत्र बनाने वाले गंधकार या गंधी कहे जाते थे।

नलकारी कर्म– इस काल में पत्ते एवं बाँस से टोकरियाँ बनाने का भी शिल्प अपने उत्कर्ष पर था। इसके अलावा जलबेंत से चटाइयों एवं आसंदी की बिनाई की जाती थी।

रंगसाजी कर्म– रंगसाजी का उद्योग भी अत्यंत विकसित हो चला था। सूत्र ग्रंथों में अनेक रंग के कपड़ों का उल्लेख प्राप्त होता है। इस समय लाख की खेती की जाती थी। यह कपड़ों एवं अन्य वस्तुओं के रंगने तथा स्त्रियों के पैरों के अलंकरण के काम में आता था। रंगसाजी के कर्म में भी दो श्रेणियाँ हो चली थीं। रंग बनानेवाले कारीगरों का एक अलग वर्ग था, जबकि रंगनेवाले की अलग श्रेणी थी।[13]

वास्तु शिल्प– इस काल में भवन बनाने का शिल्प अत्यंत विकसित हो चला था। जातक ग्रंथों से पता चलता है कि एवं राजभवन बनाने में अठारह प्रकार के शिल्पों को जानने वाले अठारह वर्ग के कारीगर काम कर रहे थे। ये अठारह प्रकार के शिल्प कौन–कौन से थे इनकी पूरी की पूरी सूची तो नहीं उपलब्ध हो सकी है। लेकिन जातकों के ही अध्ययन से भवन निर्माण में राजों, लुहारों, बढ़इयों, स्वर्णकारों, धातु शिल्पियों, जौहरियों, चित्रकारों आदि के शिल्प एवं हुनर का उपयोग होने

का उल्लेख प्राप्त होता है। वास्तुकार राजा का महल बनाने के लिये सर्वोत्तम भूमि का चयन करते थे और उसमें मजबूती से शिलान्यास करते थे।[14]

गच मूत्ति शिल्प– गच से मूर्ति बनाने के शिल्प का इस आलोच्य काल में बहुत विकास हुआ।

अन्यान्य शिल्प एवं व्यवसाय– उपर्युक्त शिल्पों के अतिरिक्त इस काल में खांड बनाने, तेल की पेराई करने, नमक बनाने, कपड़े सीने, शहद निकालने जैसे शिल्प एवं उद्योग–धंधे विकसित हो चुके थे। वस्तुतः इस काल में शिल्पकारी का स्वरूप बहुमुखी एवं बहुआयामी हो चुका था। उत्पादनमूलक शिल्प एवं अनुत्पादक शिल्प दोनों समाज में अपना स्थान बना चुके थे। मालाकार (माली), सूद (हलवाई), वैद्य, मछुआरे, धानुष्क (धनुष–वाण बनाने वाले), चित्रकार, चर्मकार आदि जैसे उत्पादनमूलक शिल्पों का प्रचलन बढ़ चुका था। वहीं ज्योतिषी नट, रजक (धोबी), शिकारी, वधिक, सपेरे, जौहरी, नाविक, संगीतज्ञ, नृत्य एवं अभिनय करनेवाले, नाई, रसोइये, पुरोहित आदि जैसे अनुत्पादक शिल्प एवं व्यवसायों का प्रचलन था। शिल्प एवं व्यवसाय अपने कार्यवृत्ति एवं उपयोगिता के अनुसार उच्च एवं निम्न माने जाते थे। शिकारी, मछुआरे, चर्मकार, कसाई, सपेरे आदि व्यवसायहीन माने जाते थे। कुछ शिल्पकारों को समाज में अत्यंत ही प्रतिष्ठा एवं सम्मान का स्थान प्राप्त था।[15]

शिल्पों का विशिष्टीकरण– शिल्पों के विशिष्टीकरण की प्रक्रिया यूँ तो ईसा पूर्व छठी शताब्दी में ही प्रारंभ हो चुकी थी। लेकिन मौर्य साम्राज्य की स्थापना होने तक विशिष्टीकरण की यह प्रक्रिया अत्यंत ही गाढ़ी हो चली थी। पहले एक व्यक्ति अनेक शिल्प में पारंगत होते थे। लेकिन समय के बदलाव के अनुसार एक व्यक्ति एक ही शिल्प में निपुणता प्राप्त करने लगे। पुनः समय में कुछ ऐसा परिवर्तन आया कि एक शिल्प के भीतर कई उपशिल्प पैदा होने लगे एवं प्रत्येक उपशिल्प में कुछ लोगों, कुछ परिवारों ने ऐसी सूक्ष्म विशेषज्ञता हासिल कर ली जिसके कारण उन उपशिल्पों ने अपनी पृथक पहचान ही बना ली।[16] शिल्प में इस विशिष्टीकरण के पीछे तत्कालीन कई कारण काम कर रहे थे।

1. शिल्पियों को कच्चे माल की पूरी जानकारी हो गयी थी एवं उन्होंने कुछ नये उपकरण विकसित कर लिये थे जिनके द्वारा कम समय में अच्छी वस्तुएँ बनाना संभव हो गया था।
2. श्रेणियों के संगठित होने के कारण शिल्पी का पुत्र अपने पिता से उस शिल्प का हुनर सीखता था और अन्य काम सीखनेवाले भी शिल्पी के परिवार में रहकर कुशल शिल्पी हो जाया करता था।
3. जब शिल्पियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बाजारों में माँग होने लगी तो विभिन्न शिल्पों में विशिष्टीकरण के प्रोत्साहन मिलने लगा। वस्तुओं की माँग बढ़ने के दो कारण थे यातायात के साधनों का भरपूर विकास एवं दूसरा विदेशों में प्रतियोगिता होने के कारण वस्तुओं के निर्माण में बारीकी एवं नफासत लाना आवश्यक हो गया था।
4. जब राज्य की ओर से शिल्पों को संरक्षण दिया जाने लगा तो शिल्पों में बेतहासा उन्नति हुई और व्यापार को भी प्रोत्साहन मिला। राज्य के व्यापारियों की सुरक्षा के लिये समुचित प्रबंध किये गये एवं शिल्पियों को आर्थिक सहायता भी दी गयीं। इसका प्रमुख कारण यह था कि शिल्पों की उन्नति से राज्य को शुल्क

निष्कर्ष :

शिल्पों एवं उद्योगों में विशिष्टीकरण का दौर जहाँ इस आलोच्य काल में अपने निर्णायक मोड़ पर आ चुका था, वहीं अपने हितों की रक्षा के लिये विभिन्न उद्योगों से जुड़े शिल्पकार अपनी श्रेणियाँ एवं संघ भी बनाने लगे थे। जातक ग्रंथों में शिल्पियों एवं कारीगरों की बहुत सी श्रेणियाँ होने का उल्लेख प्राप्त होता है। राज, लुहार, बढ़ई, चित्रकार, सौदागर, माली, सिपाही आदि विभिन्न शिल्पों एवं व्यवसायों से जुड़े लोग अपनी–अपनी श्रेणियाँ बनाते थे। एक तरह के शिल्प एवं कारीगरी से जुड़े लोग अपने को उस शिल्पी संघ या श्रेणी में संगठित करते थे। प्रत्येक श्रेणी का अपना एक अध्यक्ष या सभापति होता था जिसे प्रमुख, श्ज्येष्ठनश या श्श्रेष्ठिनश भी कहते थे। 'महाश्रेष्ठिन' उस संघ की केन्द्रीय शाखा का अध्यक्ष और श्अनुश्रेष्ठिनश उपाध्यक्ष होता था। कभी–कभी विभिन्न शिल्पों की श्रेणियाँ एवं संघ अपने सामूहिक हितों की रक्षा, लाभ या फिर उन्नति के लिये महासंघ या महाश्रेणी बनाकर उसके अध्यक्ष का भी निर्वाचन करते थे। श्ज्येष्ठनश या अध्यक्ष को समाज एवं राजसभा में अत्यंत सम्मान का स्थान प्राप्त रहता था। कभी–कभी शिल्पी संघों के ज्येष्ठिनों को राजसभा में सभासद एवं मंत्री का भी सम्माननीय पद प्रदान किया जाता था। शिल्पकारों की ये श्रेणियाँ अपने सदस्यों के आपसी विवादों का निर्णय भी करती थी, उनके उत्पादन कार्य एवं उनके क्रय–विक्रय में भी सहायता करती थीं। इन सब कार्यों के लिये प्रत्येक श्रेणी एवं संघों के अपने–अपने संविधान होते थे। श्रेणी या संघ के नियमों एवं विधि–विधानों को राज्य भी मान्यता प्रदान करती थी एवं उनमें हस्तक्षेप नहीं करती थी।

संदर्भ :

1. ए.एन. बोस, सोशल एण्ड इकानामी ऑफ नार्दन कलकत्ता, 1961, पृ.– 237
2. ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, बाइली ईस्टर्न लिमिटेड, नई दिल्ली, 1986, पृ.– 87
3. वही, पृ.– 87
4. वही, पृ.– 87
5. वही, पृ.– 83
6. जातक (देवनागरी संस्करण) नालंदा, 1956 (पंचम खंड), 5/45
7. ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, बाइली ईस्टर्न लिमिटेड, नई दिल्ली, 1986, पृ.– 207
8. जी.एल. आध्या, अर्ली इंडियन इकोनोमिक्स, लंदन, 1932, पृ. – 12
9. जातक (देवनागरी संस्करण) नालंदा, 1956 (द्वितीय खंड), 4/207
10. जी.एल. आध्या, अर्ली इंडियन इकोनोमिक्स, लंदन, 1932, पृ. – 17
11. ए.एस. अल्तेकर एंड वी.के. मिश्रा, रिपोर्ट ऑन कुम्हरार एक्सकेवेसंस, पटना, पृ.– 112–117
12. जी.एल. आध्या, अर्ली इंडियन इकोनोमिक्स, लंदन, 1932, पृ. – 80
13. दीघ निकाय (देवनागरी संस्करण), नालंदा, 1958, 23/17
14. जातक (देवनागरी संस्करण) नालंदा, 1956, 2/297 एवं 4/324
15. ईश्वरी प्रसाद, प्राचीन भारतीय संस्कृति, मीनू पब्लिकेसंस, इलाहाबाद, 1986, 109–110
16. ए.एन. बोस, सोशल एण्ड इकानामी ऑफ नार्दन कलकत्ता, 1961, पृ.– 235–236